INTERNATIONAL INSIGHTS
JOURNAL OF MULTIDISCIPLINARY RESEARCH

www.insightresearch.org.in
Multidisciplinary, Multi-Lingual, Peer Reviewed /Refereed
Open Access Journal
Volume-3, Issue 2, April-June 2026
ISSN : 3049-0847 (E)
IMPACT FACTOR : 7.725
https://doi.org/10.5281/zenodo.21447786

राजनीतिक प्रतिनिधित्व से परेः सीमांत समुदायों के सशक्तिकरण के लिए गांधीवादी स्वराज और सहभागी लोकतंत्र का पुनर्मूल्यांकन

शिवांशु मिश्रा
शोधार्थी, राजनीति विज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय
हिमांशु सिंह
शोधार्थी, सतत शिक्षा एवं विस्तार विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

सार (Abstract)

राजनीतिक प्रतिनिधित्व को लंबे समय से लोकतांत्रिक शासन की आधारशिला माना जाता रहा है, फिर भी हाशिए पर स्थित समुदायों से निर्वाचित प्रतिनिधियों की मात्र उपस्थिति वास्तविक सशक्तिकरण में परिवर्तित नहीं हो पाई है। जाति, वर्ग, लिंग और भूगोल पर आधारित असमानताएं आज भी निर्णय लेने की प्रक्रियाओं में सार्थक भागीदारी को सीमित करती हैं। यह शोध पत्र महात्मा गांधी के स्वराज की अवधारणा का समकालीन सहभागी लोकतंत्र के सिद्धांतों के साथ पुनर्मूल्यांकन करता है ताकि यह जांचा जा सके कि क्या यह लोकतांत्रिक शासन का अधिक समावेशी मॉडल प्रस्तुत करता है। यह पत्र यह भी तर्क देता है कि गांधीवादी दृष्टि को बिना आलोचनात्मक परीक्षण के नहीं अपनाया जा सकता — विशेष रूप से बी. आर. अंबेडकर की इस चेतावनी के आलोक में कि आदर्शीकृत ग्राम समुदाय स्वयं जातिगत पदानुक्रम और स्थानीय दमन का स्थल रहे हैं। गांधीवादी साहित्य, संवैधानिक प्रावधानों और समकालीन लोकतांत्रिक प्रथाओं के गुणात्मक विश्लेषण के माध्यम से, यह पत्र यह दर्शाता है कि गांधीवादी स्वराज तभी सीमांत समुदायों के सशक्तिकरण का साधन बन सकता है जब उसे सामाजिक समानता की गारंटी देने वाली संस्थागत सुरक्षा — विशेष रूप से संवैधानिक प्रतिनिधित्व और कानूनी अधिकारों — के साथ जोड़ा जाए, न कि उसके विकल्प के रूप में प्रस्तुत किया जाए। अध्ययन इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि प्रतिनिधि और सहभागी लोकतंत्र के बीच का संबंध विकल्प का नहीं बल्कि पारस्परिक सुदृढ़ीकरण का होना चाहिए।

मुख्य शब्द (Keywords): *गांधीवादी स्वराज, सहभागी लोकतंत्र, सीमांत समुदाय, विकेंद्रीकरण, ग्राम स्वराज, अंबेडकर, सामाजिक न्याय, लोकतांत्रिक भागीदारी*

1. प्रस्तावना (Introduction)

लोकतंत्र को परंपरागत रूप से शासन की एक ऐसी प्रणाली के रूप में समझा जाता रहा है जिसमें नागरिक निर्वाचित प्रतिनिधियों के माध्यम से राजनीतिक अधिकार का प्रयोग करते हैं। सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार और आरक्षण-आधारित सकारात्मक कार्रवाई नीतियों के विस्तार ने निस्संदेह भारत जैसे उत्तर-औपनिवेशिक समाजों में लोकतांत्रिक संस्थाओं को सुदृढ़ किया है, फिर भी चुनावी प्रतिनिधित्व अकेले किस हद तक वास्तविक सशक्तिकरण सुनिश्चित कर सकता है, यह विद्वानों के बीच निरंतर बहस का विषय बना हुआ है। अनुसूचित जातियां, अनुसूचित जनजातियां, महिलाएं, धार्मिक अल्पसंख्यक और भूमिहीन श्रमिक अक्सर वास्तविक निर्णय लेने की प्रक्रियाओं से बाहर रह जाते हैं, भले ही वे औपचारिक रूप से निर्वाचित संस्थाओं के भीतर प्रतिनिधित्व प्राप्त कर चुके हों। यह निरंतरता दर्शाती है कि लोकतांत्रिक समावेशन के लिए वर्णनात्मक प्रतिनिधित्व से कहीं अधिक की आवश्यकता है।

इन विकल्पों में सबसे प्रभावशाली महात्मा गांधी की स्वराज की अवधारणा है, जो लोकतंत्र को केवल प्रतिनिधि सरकार की प्रणाली के बजाय आत्म-शासन, नैतिक नागरिकता और विकेंद्रीकरण में निहित एक सहभागी प्रक्रिया के रूप में प्रस्तुत करती है। रघुनाथ अय्यर के अनुसार, गांधी का राजनीतिक चिंतन इस अर्थ में विशिष्ट था कि इसने सत्ता के प्रश्न को सदैव नैतिकता के प्रश्न से अविभाज्य माना — राजनीतिक स्वतंत्रता के बिना नैतिक आत्म-अनुशासन अधूरा था, और नैतिक आत्म-अनुशासन के बिना राजनीतिक स्वतंत्रता खोखली (Iyer, 1973)। सहभागी लोकतंत्र के समकालीन सिद्धांत — कैरोल पेटमैन (1970), बेंजामिन बार्बर (1984), आर्कन फंग और एरिक ओलिन राइट (2003), तथा जेन मैन्सब्रिज (1983) के कार्यों में निहित — प्रतिनिधि लोकतंत्र की इसी तरह की आलोचना प्रस्तुत करते हैं, यह तर्क देते हुए कि लोकतांत्रिक वैधता सार्वजनिक विचार-विमर्श में नागरिकों की प्रत्यक्ष भागीदारी पर निर्भर करती है।

यद्यपि गांधीवादी राजनीतिक दर्शन और सहभागी लोकतंत्र दोनों ने पर्याप्त विद्वत्तापूर्ण ध्यान आकर्षित किया है, इनकी जांच बड़े पैमाने पर अलग-अलग क्षेत्रों के रूप में हुई है, और गांधीवादी नैतिक सिद्धांत समकालीन सहभागी संस्थाओं को किस प्रकार सुदृढ़ कर सकते हैं, इस पर तुलनात्मक रूप से कम ध्यान गया है। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि गांधीवादी ग्राम स्वराज की अवधारणा को प्रायः बिना यह पूछे अपनाया जाता है कि क्या आदर्शीकृत ग्राम समुदाय स्वयं जातिगत और लैंगिक पदानुक्रम को पुनरुत्पादित करने का स्थल रहा है — एक प्रश्न जिसे बी. आर. अंबेडकर ने बड़ी तीव्रता से उठाया था। यह पत्र इस दोहरे अंतर को संबोधित करने का प्रयास करता है: पहला, गांधीवादी स्वराज और सहभागी लोकतांत्रिक सिद्धांत के बीच के सैद्धांतिक संबंध की पड़ताल करके; और दूसरा, इस संबंध को अंबेडकर की आलोचना की कसौटी पर परखकर।

यह अध्ययन विषयगत सामग्री विश्लेषण पर आधारित एक गुणात्मक और व्याख्यात्मक शोध डिज़ाइन अपनाता है। यह प्राथमिक स्रोतों — 'हिंद स्वराज', 'यंग इंडिया', 'हरिजन', और 'द कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी' — के साथ-साथ अंबेडकर के लेखन, विद्वानों की पुस्तकों, संवैधानिक प्रावधानों और सरकारी रिपोर्टों पर निर्भर करता है। मुख्य ध्यान भारतीय अनुभव पर केंद्रित है, जबकि चर्चा को प्रासंगिक बनाने के लिए ब्राजील में सहभागी शासन पहलों के साथ चुनिंदा तुलनाएं शामिल की गई हैं।

2. गांधीवादी स्वराज, सहभागी लोकतंत्र और लोकतांत्रिक समावेशन

महात्मा गांधी की स्वराज की अवधारणा लोकतांत्रिक विचार में सबसे विशिष्ट योगदानों में से एक है। हालांकि यह शब्द अक्सर भारत के स्वतंत्रता संग्राम से जुड़ा है, गांधी की व्याख्या औपनिवेशिक शासकों से स्वदेशी अभिजात वर्ग को सत्ता के हस्तांतरण से कहीं आगे तक विस्तृत थी। 'हिंद स्वराज' (1909) में, गांधी ने केंद्रीकृत आधुनिक राजनीतिक प्रणालियों की आलोचना प्रस्तुत की और तर्क दिया कि सच्चा लोकतंत्र आम लोगों की सक्रिय भागीदारी में निहित होना चाहिए, न कि केवल निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा प्रयोग किए जाने वाले अधिकार तक सीमित। गांधीवादी स्वराज का एक केंद्रीय तत्व ग्राम स्वराज, या ग्रामीण स्व-शासन का विचार था — गांव आत्मनिर्भर लोकतांत्रिक समुदाय के रूप में, जहां राजनीतिक अधिकार का प्रयोग प्रत्यक्ष भागीदारी और सामूहिक निर्णय लेने के माध्यम से किया जाएगा।

गांधी का लोकतांत्रिक दर्शन उनके सत्य, अहिंसा और ट्रस्टीशिप के व्यापक नैतिक सिद्धांतों से गहराई से जुड़ा था। बाद के वर्षों में 'हरिजन' में लिखते हुए, गांधी ने ट्रस्टीशिप की अवधारणा को और विस्तार दिया, यह तर्क देते हुए कि संपत्तिवान वर्ग को अपने संसाधनों को व्यक्तिगत स्वामित्व के बजाय सामुदायिक कल्याण के लिए धारित संपत्ति के रूप में देखना चाहिए (गांधी, 1958-1994)। भीखू पारेख (1989) के अनुसार, गांधी का राजनीतिक विचार एक वैकल्पिक लोकतांत्रिक मॉडल प्रस्तुत करता है जो उदारवादी परंपराओं में पाए जाने वाले राज्य-केंद्रित और प्रतिस्पर्धी राजनीति के अत्यधिक जोर को चुनौती देता है। एंथनी जे. पैरेल (1997) इस बात पर प्रकाश डालते हैं कि आधुनिक सभ्यता की गांधी की आलोचना स्वयं लोकतंत्र की अस्वीकृति नहीं थी, बल्कि लोकतांत्रिक शासन के अधिक सहभागी और नैतिक रूप से स्थापित रूप का आह्वान थी। डेनिस डाल्टन (1993) आगे इस बात

पर बल देते हैं कि गांधी लोकतंत्र को प्रतिनिधियों के चयन की पद्धति के बजाय सामाजिक परिवर्तन की एक सतत प्रक्रिया के रूप में देखते थे।

सहभागी लोकतंत्र के समकालीन सिद्धांत इन गांधीवादी चिंताओं में से कई को प्रतिबिंबित करते हैं। कैरोल पेटमैन (1970) का प्रभावशाली कार्य यह तर्क देता है कि भागीदारी का एक साधन-संबंधी और परिवर्तनकारी मूल्य दोनों होता है, क्योंकि यह नागरिकों की राजनीतिक क्षमताओं को विकसित करता है और राजनीतिक अलगाव की भावनाओं को कम करता है — एक समझ जो गांधी के इस विश्वास के समानांतर है कि लोकतांत्रिक क्षमता का विकास सामुदायिक स्तर की भागीदारी से होता है। बेंजामिन बार्बर (1984) ने 'स्ट्रॉन्ग डेमोक्रेसी' में तर्क दिया कि लोकतंत्र को सार्वजनिक विचार-विमर्श की एक सतत प्रक्रिया के रूप में समझा जाना चाहिए, जबकि आर्कन फंग और एरिक ओलिन राइट (2003) ने 'सशक्त सहभागी शासन' की अवधारणा के माध्यम से दिखाया कि कैसे विकेंद्रीकृत संस्थाएं वंचित समूहों को नीति-निर्माण में सीधा प्रभाव डालने के अवसर दे सकती हैं। जेन मैन्सब्रिज (1983) यह जोड़ती हैं कि सहभागी व्यवस्थाएं सीमांत समुदायों के लिए विशेष रूप से मूल्यवान हैं क्योंकि वे समावेशी विचार-विमर्श के स्थान प्रदान करती हैं।

गांधीवादी स्वराज और सहभागी लोकतंत्र के बीच का संबंध सामाजिक न्याय की कसौटी पर विशेष रूप से महत्वपूर्ण हो जाता है। जॉन रॉल्स (1971) की यह अवधारणा कि न्यायसंगत संस्थाएं समाज की मूल संरचना में असमानता को कम से कम अवस्थित वर्ग के लाभ की शर्त पर ही सही ठहरा सकती हैं, इस तर्क को एक औपचारिक आधार देती है कि प्रक्रियागत समानता — जैसे मताधिकार — अपने आप में पर्याप्त नहीं है। अमर्त्य सेन (1999) का क्षमता परिप्रेक्ष्य इसी बात को आगे बढ़ाता है कि लोकतांत्रिक स्वतंत्रता में व्यक्तियों की उन निर्णयों को प्रभावित करने की वास्तविक क्षमता शामिल है जो उनके जीवन को आकार देते हैं, जबकि नैन्सी फ्रेजर (2009) का तर्क है कि न्याय के लिए पुनर्वितरण, मान्यता और प्रतिनिधित्व की एक साथ उपलब्धि आवश्यक है। इन तीनों दृष्टिकोणों को एक साथ पढ़ने पर यह स्पष्ट होता है कि हाशिए पर रहने वाले समुदायों को न केवल राजनीतिक संस्थाओं में उपस्थिति चाहिए, बल्कि शासन में भाग लेने के वास्तविक अवसर भी चाहिए — ठीक वही मांग जो गांधी की ग्राम स्वराज की परिकल्पना में निहित थी।

3. आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य: अंबेडकर और ग्राम स्वराज की सीमाएं

गांधीवादी स्वराज की किसी भी गंभीर पुनर्व्याख्या को बी. आर. अंबेडकर की आलोचना का सामना करना चाहिए, जिन्होंने भारतीय गांव को आदर्श लोकतांत्रिक इकाई के रूप में देखे जाने पर गहरी आपत्ति जताई थी। संविधान सभा में नवंबर 1948 की अपनी प्रसिद्ध टिप्पणी में, अंबेडकर ने तर्क दिया कि भारतीय गांव संकीर्णतावाद और सांप्रदायिकता से ग्रस्त एक स्थानीयतावादी इकाई रहा है, जहां जातिगत पदानुक्रम, अस्पृश्यता और आर्थिक शोषण को स्थानीय स्वायत्तता की आड़ में बनाए रखा जाता रहा है (Ambedkar, 1948)। उनके अनुसार, गांव को स्व-शासन की मूल इकाई मान लेना दरअसल उन्हीं शक्ति-संरचनाओं को संस्थागत मान्यता देना है जिन्होंने ऐतिहासिक रूप से दलितों, महिलाओं और अन्य वंचित समूहों को हाशिए पर रखा है।

यह आलोचना गांधीवादी विश्लेषण के लिए एक गंभीर चुनौती प्रस्तुत करती है। जहां गांधी ने ग्राम समुदाय को नैतिक और राजनीतिक पुनर्जागरण के प्राकृतिक स्थल के रूप में देखा, वहीं अंबेडकर ने इसे उत्पीड़न की निरंतरता के तंत्र के रूप में देखा — एक ऐसा स्थान जहां प्रभुत्वशाली जातियों की सामाजिक शक्ति औपचारिक राजनीतिक संस्थाओं से कहीं अधिक निर्णायक होती है। यह तनाव विशुद्ध रूप से ऐतिहासिक नहीं है; यह आज भी पंचायती राज संस्थाओं के अनुभव में प्रतिबिंबित होता है, जहां शोध लगातार यह दिखाते हैं कि विकेंद्रीकरण अपने आप में जातिगत या लैंगिक पदानुक्रम को समाप्त नहीं करता, और कई बार स्थानीय संस्थाएं इन्हीं पदानुक्रमों को नई संस्थागत भाषा में पुनः प्रस्तुत कर देती हैं।

इस आलोचना से यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि गांधीवादी स्वराज पूरी तरह अप्रासंगिक है। बल्कि, यह इस बात को रेखांकित करता है कि विकेंद्रीकरण और स्थानीय स्वायत्तता तभी मुक्तिदायक हो सकती हैं जब उन्हें संवैधानिक अधिकारों, कानूनी संरक्षण और सामाजिक समानता की सुनिश्चित गारंटियों के साथ जोड़ा जाए — ठीक वैसे ही जैसे 73वें संवैधानिक संशोधन ने पंचायती राज संस्थाओं में अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और महिलाओं के लिए आरक्षण को अनिवार्य करके किया। दूसरे शब्दों में, अंबेडकर की चुनौती गांधीवादी स्वराज को खारिज नहीं करती, बल्कि इसे एक शर्त के साथ स्वीकार करने के लिए बाध्य करती है: विकेंद्रीकरण को समानता की गारंटी देने वाली संस्थाओं का विकल्प नहीं, बल्कि उनका पूरक होना चाहिए। यही वह संश्लेषण है जिसे यह पत्र आगे विकसित करने का प्रयास करता है।

4. राजनीतिक प्रतिनिधित्व, सहभागी शासन और सीमांत समुदायों का सशक्तिकरण

राजनीतिक प्रतिनिधित्व भारत के लोकतांत्रिक ढांचे का एक केंद्रीय घटक और सामाजिक न्याय को आगे बढ़ाने का महत्वपूर्ण साधन रहा है। विधायी निकायों और स्थानीय सरकारों में अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और महिलाओं के लिए आरक्षण नीतियों ने ऐतिहासिक रूप से बहिष्कृत समूहों के वर्णनात्मक प्रतिनिधित्व में काफी वृद्धि की है। हैन्ना पिटकिन (1967) का तर्क है कि प्रतिनिधित्व में प्रतिनिधियों की केवल भौतिक उपस्थिति से कहीं अधिक शामिल है; इसके लिए उन लोगों के हितों में कार्य करने की क्षमता भी आवश्यक है जिनका वे प्रतिनिधित्व करते हैं। ऐन फिलिप्स (1995) ने 'उपस्थिति की राजनीति' की अवधारणा के माध्यम से इस बात पर जोर दिया कि निर्णय लेने वाले निकायों में ऐतिहासिक रूप से बहिष्कृत समूहों का समावेशन लोकतांत्रिक वैधता के लिए आवश्यक है, पर वह यह भी स्वीकार करती हैं कि उपस्थिति अकेले संरचनात्मक असमानताओं को तब तक समाप्त नहीं कर सकती जब तक संस्थाएं प्रतिनिधियों को वास्तविक प्रभाव का प्रयोग करने में सक्षम न बनाएं।

73वें संवैधानिक संशोधन अधिनियम, 1992 ने पंचायती राज संस्थाओं की स्थापना करके इस अंतर को संस्थागत रूप से संबोधित करने का प्रयास किया, स्थानीय निकायों में महिलाओं, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए सीटें आरक्षित कीं (Government of India, 1992)। इस आरक्षण के परिणामस्वरूप भारत में स्थानीय शासन में निर्वाचित महिला प्रतिनिधियों की संख्या विश्व में सबसे अधिक मानी जाती है — पंचायती राज मंत्रालय के आंकड़ों के अनुसार दस लाख से अधिक महिलाएं वर्तमान में पंचायती राज संस्थाओं में निर्वाचित पदों पर हैं (Ministry of Panchayati Raj, Government of India, 2006)। जॉर्ज मैथ्यू (1995) और जेम्स मैनर (1999) पंचायती राज को एक महत्वपूर्ण लोकतांत्रिक नवाचार मानते हैं, पर वे यह भी बल देते हैं कि विकेंद्रीकरण को प्रभावी होने के लिए वास्तविक प्रशासनिक और वित्तीय स्वायत्तता चाहिए। नीरजा गोपाल जयल (2006) का तर्क है कि लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण ने नए अवसर पैदा किए हैं, पर इसकी परिवर्तनकारी क्षमता नौकरशाही नियंत्रण और अभिजात वर्ग के प्रभुत्व से सीमित बनी हुई है — जो ठीक उसी 'विशिष्ट वर्ग के कब्जे' की पुष्टि करता है जिसकी चेतावनी अंबेडकर ने दशकों पहले दी थी।

उदाहरण के लिए, महिला प्रतिनिधियों ने आरक्षण नीतियों के माध्यम से बढ़ी हुई राजनीतिक दृश्यता हासिल की है, फिर भी पितृसत्तात्मक मानदंड और 'प्रधान-पति' जैसी छद्म-नेतृत्व की प्रथाएं अक्सर उनकी स्वतंत्र रूप से अधिकार प्रयोग करने की क्षमता को बाधित करती हैं। इसी तरह अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के प्रतिनिधियों को स्थानीय निर्णय-प्रक्रिया को प्रभावित करने का प्रयास करते समय सामाजिक भेदभाव का सामना करना पड़ता है। यह स्थिति ठीक उस अंतर की पुष्टि करती है जिसकी चर्चा पिछले भाग में की गई — औपचारिक प्रतिनिधित्व अपने आप में उन सामाजिक शक्ति-संरचनाओं को नहीं बदलता जिनकी अंबेडकर ने पहचान की थी।

आदिवासी समुदायों के संदर्भ में, वन अधिकार अधिनियम, 2006 के तहत गठित वन अधिकार समितियां सामुदायिक संसाधन-शासन का एक उल्लेखनीय उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। एलिनोर ऑस्ट्रॉम (1990) का यह तर्क कि स्थानीय समुदाय, यदि उन्हें

स्पष्ट सीमाएं, सामूहिक निर्णय-नियम और निगरानी की क्षमता दी जाए, तो साझा संसाधनों का प्रभावी ढंग से स्व-प्रबंधन कर सकते हैं, यह समझने में सहायक है कि क्यों कुछ वन अधिकार समितियां सफल रहीं जबकि अन्य नौकरशाही हस्तक्षेप और संसाधनों की कमी के कारण असफल रहीं। यह ऑस्ट्रॉम का ढांचा गांधीवादी और सहभागी दोनों तर्कों को एक व्यावहारिक कसौटी पर परखने का अवसर देता है — विकेंद्रीकरण तभी टिकाऊ होता है जब उसके साथ स्पष्ट अधिकार, जवाबदेही तंत्र और बाहरी संस्थागत समर्थन हो, केवल सद्भावना या नैतिक अपील नहीं।

5. चुनौतियां, समकालीन प्रासंगिकता और आगे की राह

गांधीवादी स्वराज, अंबेडकर की आलोचना और सहभागी लोकतंत्र के सिद्धांतों का यह संयुक्त विश्लेषण प्रकट करता है कि लोकतांत्रिक सशक्तिकरण के लिए औपचारिक राजनीतिक संस्थाओं के विस्तार से कहीं अधिक की आवश्यकता है, पर साथ ही यह भी कि विकेंद्रीकरण को समानता की संस्थागत गारंटियों से अलग करके नहीं देखा जा सकता। प्रभावी सहभागी शासन की एक प्रमुख बाधा स्थानीय संस्थानों में अभिजात वर्ग के प्रभुत्व की निरंतरता है — प्रभुत्वशाली जाति समूह और आर्थिक रूप से शक्तिशाली अभिनेता अक्सर निर्णय-प्रक्रिया को प्रभावित करना जारी रखते हैं, जिससे सीमांत समूहों की स्वतंत्र रूप से अपने हित व्यक्त करने की क्षमता सीमित हो जाती है।

एक अन्य महत्वपूर्ण चुनौती स्थानीय सरकारों की सीमित स्वायत्तता है। 73वें संशोधन जैसे सुधारों ने जमीनी लोकतंत्र के लिए एक ढांचा तैयार किया, पर कई स्थानीय संस्थाएं अपर्याप्त वित्तीय संसाधनों और सरकार के उच्च स्तरों पर निर्भरता के कारण बाधित रहती हैं। प्रभावी भागीदारी के लिए न केवल अधिकार बल्कि संसाधनों और निर्णय-क्षमता के हस्तांतरण की भी आवश्यकता होती है। इस संदर्भ में नागरिक शिक्षा और क्षमता-निर्माण लोकतांत्रिक सशक्तिकरण के अनिवार्य घटक बन जाते हैं — हाशिए पर रहने वाले समुदायों को सीमित शिक्षा, सूचना की कमी और सामाजिक बहिष्कार से जुड़ी बाधाओं का सामना करना पड़ता है, जो उन्हें समान रूप से भाग लेने से रोकते हैं।

इन चुनौतियों के बावजूद, गांधीवादी और सहभागी सिद्धांतों का यह संश्लेषण समकालीन लोकतांत्रिक बहसों के लिए प्रासंगिक बना हुआ है। ब्राज़ील में सहभागी बजट (पार्टिसिपेटरी बजटिंग), समुदाय-संचालित विकास कार्यक्रम और विकेंद्रीकृत संसाधन-प्रबंधन प्रणालियां शासन में नागरिक जुड़ाव के महत्व की बढ़ती स्वीकार्यता को प्रदर्शित करती हैं। ये वैश्विक अनुभव, हालांकि अपने ऐतिहासिक और संस्थागत संदर्भों में भिन्न हैं, फिर भी स्थानीय निर्णय-प्रक्रिया और सामुदायिक स्वायत्तता पर बल देने के मामले में गांधीवादी अंतर्दृष्टि के समानांतर चलते हैं — बशर्ते वे भी, ऑस्ट्रॉम के ढांचे की तरह, स्पष्ट संस्थागत नियमों और बाहरी जवाबदेही के साथ काम करें।

इसलिए समकालीन समाज में लोकतांत्रिक सशक्तिकरण को मजबूत करने के लिए एक बहुआयामी दृष्टिकोण आवश्यक है: स्थानीय संस्थानों को अधिक प्रशासनिक और वित्तीय स्वायत्तता, सीमांत समुदायों को शिक्षा और क्षमता-निर्माण के बेहतर अवसर, सहभागी तंत्रों की ऐसी अभिकल्पना जो अभिजात वर्ग के प्रभुत्व को सक्रिय रूप से रोके, और साथ ही यह सुनिश्चित करने वाली मजबूत संवैधानिक व कानूनी सुरक्षा कि विकेंद्रीकरण जातिगत या लैंगिक पदानुक्रम के पुनरुत्पादन का साधन न बन जाए।

6. निष्कर्ष (Conclusion)

इस अध्ययन ने केवल राजनीतिक प्रतिनिधित्व के लोकतांत्रिक समावेशन के लिए पर्याप्त होने की धारणा पर सवाल उठाकर गांधीवादी स्वराज, सहभागी लोकतंत्र और सीमांत समुदायों के सशक्तिकरण के बीच के संबंध की पड़ताल की है। साथ ही, इसने इस संबंध को अंबेडकर की आलोचना के आईने में परखकर एक ज़रूरी सुधार भी जोड़ा है — विकेंद्रीकरण अपने आप में मुक्तिदायक नहीं है, और गांव को निर्विवाद रूप से आदर्श लोकतांत्रिक इकाई मान लेना ऐतिहासिक रूप से उन्हीं पदानुक्रमों को वैधता दे सकता है जिन्हें लोकतंत्र को चुनौती देनी चाहिए थी।

इस तनाव से जो संश्लेषण उभरता है वह यह है: गांधीवादी स्वराज लोकतंत्र की एक मूल्यवान नैतिक और सहभागी दृष्टि प्रदान करता है, पर इसे केवल तभी सुरक्षित रूप से अपनाया जा सकता है जब यह संवैधानिक प्रतिनिधित्व, कानूनी अधिकारों और सामाजिक समानता की संस्थागत गारंटियों के साथ — उनके विकल्प के रूप में नहीं, बल्कि उनके पूरक के रूप में — काम करे। पंचायती राज संस्थाओं का अनुभव इसी संश्लेषण का एक ठोस उदाहरण है: आरक्षण (प्रतिनिधित्व का साधन) और ग्राम सभा (भागीदारी का साधन) एक साथ काम करते हैं, और जहां भी इनमें से कोई एक कमजोर पड़ता है, अभिजात वर्ग का प्रभुत्व वापस लौट आता है।

अध्ययन का तर्क है कि सीमांत समुदायों के प्रभावी सशक्तिकरण के लिए प्रतिनिधि और सहभागी दोनों रूपों के एकीकरण की आवश्यकता है, जिसे संवैधानिक समानता की गारंटियों द्वारा एंकर किया गया हो। ग्राम सभा, सामाजिक अंकेक्षण, वन अधिकार समितियां और विकेंद्रीकृत संसाधन-प्रबंधन जैसी प्रक्रियाएं सीमांत समूहों को अपनी चिंताओं को व्यक्त करने के महत्वपूर्ण अवसर देती हैं, पर इनकी सफलता अभिजात वर्ग के कब्जे, नौकरशाही केंद्रीकरण और असमान सामाजिक संबंधों जैसी निरंतर चुनौतियों के समाधान पर निर्भर करती है। अंततः, गांधीवादी स्वराज साझा जिम्मेदारी और सार्थक भागीदारी की एक प्रक्रिया के रूप में लोकतंत्र की पुनर्कल्पना के लिए एक मूल्यवान — किंतु आत्म-पर्याप्त नहीं — वैचारिक संसाधन बना हुआ है।

संदर्भ (References)

1. Ambedkar, B. R. (1948). Constituent Assembly debates (Vol. VII). Lok Sabha Secretariat.
2. Barber, B. R. (1984). Strong democracy: Participatory politics for a new age. University of California Press.
3. Dalton, D. (1993). Mahatma Gandhi: Nonviolent power in action. Columbia University Press.
4. Fraser, N. (2009). Scales of justice: Reimagining political space in a globalizing world. Columbia University Press.
5. Fung, A., & Wright, E. O. (Eds.). (2003). Deepening democracy: Institutional innovations in empowered participatory governance. Verso.
6. Gandhi, M. K. (1909/1938). Hind Swaraj or Indian home rule (M. K. Gandhi, Trans.). Navajivan Publishing House. (Original work published 1909)
7. Gandhi, M. K. (1958-1994). The collected works of Mahatma Gandhi (Vols. 1-100). Publications Division, Government of India.
8. Government of India. (1992). The Constitution (Seventy-Third Amendment) Act, 1992. Ministry of Law and Justice.
9. Iyer, R. N. (1973). The moral and political thought of Mahatma Gandhi. Oxford University Press.
10. Jayal, N. G. (2006). Representing India: Ethnic diversity and the governance of public institutions. Palgrave Macmillan.
11. Manor, J. (1999). The political economy of democratic decentralization. World Bank.
12. Mansbridge, J. (1983). Beyond adversary democracy (2nd ed.). University of Chicago Press.
13. Mathew, G. (Ed.). (1995). Status of Panchayati Raj in the states of India, 1994. Institute of Social Sciences.
14. Ministry of Panchayati Raj, Government of India. (2006). Roadmap for the Panchayati Raj (2004-2009): An all India perspective. Government of India.
15. Ostrom, E. (1990). Governing the commons: The evolution of institutions for collective action. Cambridge University Press.
16. Parekh, B. (1989). Gandhi's political philosophy: A critical examination. University of Notre Dame Press.
17. Parel, A. J. (Ed.). (1997). Hind Swaraj and other writings. Cambridge University Press.
18. Pateman, C. (1970). Participation and democratic theory. Cambridge University Press.
19. Phillips, A. (1995). The politics of presence. Oxford University Press.
20. Pitkin, H. F. (1967). The concept of representation. University of California Press.
21. Rawls, J. (1971). A theory of justice. Harvard University Press.
22. Sen, A. (1999). Development as freedom. Oxford University Press.